क्रांतिधर्मी साहित्य - युग साहित्य - इक्कीसवीं सदी का मार्गदर्शक साहित्य

क्रान्तिधर्मी साहित्य-युग साहित्य नाम से विख्यात यह पुस्तकमाला युगद्रष्टा-युगसृजेता प्रज्ञापुरुष पं.श्रीराम शर्मा आचार्य जी द्वारा १९८९-९० में महाप्रयाण के एक वर्ष पूर्व की अवधि में एक ही प्रवाह में लिखी गयी है। प्रायः २० छोटी-छोटी पुस्तिकाओं में प्रस्तुत इस साहित्य के विषय में स्वयं हमारे आराध्य प.पू. गुरुदेव पं.श्रीराम शर्मा आचार्य जी का कहना था-''हमारे ये विचार, क्रान्ति के बीज हैं। ये थोड़े भी दुनियाँ में फैल गए, तो अगले दिनों धमाका कर देंगे। सारे विश्व का नक्शा बदल देंगे।....मेरे अभी तक के सारे साहित्य का सार हैं।.... सारे जीवन का लेखा-जोखा हैं।.... जीवन और चिंतन को बदलने के सूत्र हैं इनमें।.... हमारे उत्तराधिकारियों के लिए वसीयत हैं।.... अभी तक का साहित्य पढ़ पाओ या न पढ़ पाओ, इसे जरूर पढ़ना। इन्हें समझे बिना भगवान के इस मिशन को न तो तुम समझ सकते हो, न ही किसी को समझा सकते हो।.... प्रत्येक कार्यकर्त्ता को नियमित रूप से इसे पढ़ना और जीवन में उतारना युग-निर्माण के लिए जरूरी है। तभी अगले चरण में वे प्रवेश कर सकेंगे।.... यह इस युग की गीता है। एक बार पढ़ने से न समझ आए तो सौ बार पढ़ना और सौ लोगों को पढ़ाना। उनसे भी कहना कि आगे वे १०० लोगों को पढ़ाएँ। हम लिखें तो असर न हो, ऐसा हो ही नहीं सकता। जैसे अर्जुन का मोह गीता से भंग हुआ था, वैसे ही तुम्हारा मोह इस युग-गीता से भंग होगा।.... मेरे जीवन भर का साहित्य इस शरीर के वजन से भी ज्यादा भारी है। यदि मेरे जीवन भर के साहित्य को तराजू के एक पलड़े पर रखें और क्रांतिधर्मी साहित्य को दूसरे पलड़े पर, तो इनका वजन ज्यादा होगा।.... महाकाल ने स्वयं मेरी उँगलियाँ पकड़कर ये साहित्य लिखवाया है।.... इन्हें लागत मूल्य पर छपवाकर प्रचारित-प्रसारित (शब्दशः-अक्षरशः) करने की सभी को छूट है, कोई कापीराइट नहीं है।....मेरे ज्ञान शरीर को मेरे क्रान्तिधर्मी साहित्य के रूप में जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास करें।''.....

मन:स्थिति बदलें, तो परिस्थिति बदले

लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक
युग निर्माण योजना
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

अनुक्रमणिका

युग धर्म का परिपालन अनिवार्य

छोटे बच्चों के कपड़े किशोरों के लिए फिट नहीं बैठते और किशोरों के लिए सिलवाए गए कपड़ों से प्रौढ़ों का काम नहीं चलता । आयु वृद्धि के साथ–साथ परिवर्तन आवश्यक हो जाता है । भोजन ताजा बनाने से ही काम चलता है । विद्यार्थी जैसे–जैसे कक्षा चढ़ते जाते हैं, वैसे ही वैसे उन्हें अगले पाठ्यक्रम की पुस्तकें खरीदनी पड़ती हैं । सर्दी और गर्मी के कपड़े अलग तरह के होते हैं । परिवर्तन होते चलने के साथ, तदनुकूल व्यवस्था बनाते रहना भी एक प्रकार से अनिवार्य है ।

समय सदा एक जैसा नहीं रहता । वह बदलता एवं आगे बढ़ता जाता है, तो उसके अनुसार नए नियम–निर्धारण भी करने पड़ते हैं । आदिम काल में मनुष्य बिना वस्त्रों के ही रहता था । मध्यकाल में धोती और दुपट्टा दो ही, बिना सिले वस्त्र काम आने लगे थे । प्रारंभ में अनगढ़ औजारों–हथियारों से ही काम चल जाता था । मध्यकाल में भी धनुष बाण और ढाल–तलवार ही युद्ध के प्रमुख उपकरण थे, अब आग्नेयास्त्रों के बिना काम चल ही नहीं सकता । समय के साथ परिस्थितियाँ बदलती हैं और फिर उनके समाधान खोजने पड़ते हैं ।

प्राचीनकाल के वर्णाश्रम पर आधारित प्रायः सभी विभाजन बदल गए । अब उसका स्थान नई व्यवस्था ने ले लिया है । दो सौ वर्ष पुराने समय में काम आने वाली पोशाकों का अब कहीं–कहीं प्रदर्शनियों के रूप में ही अस्तित्व दीख पड़ता है । जब साइकिलें चली थीं तब अगला पहिया बहुत बड़ा और पिछला बहुत छोटा था । अब उनका दर्शन किन्हीं पुरातन प्रदर्शनियों में ही दीख पड़ता है । कुदाली से जमीन खोद कर खेती करना किसी समय खेती का प्रमुख आधार रहा होगा, पर अब तो सुधरे हुए हल ही काम आते हैं । उन्हें जानवरों या मशीनों द्वारा चलाया जाता है । लकड़ियाँ घिसकर आग पैदा करने की प्रथा मध्यकाल में थी, पर अब तो

माचिस का प्रचलन हो जाने पर कोई भी उस कष्टसाध्य प्रक्रिया को अपनाने के लिए तैयार न होगा ।

विकास क्रम में ऐसे बदलाव अनायास ही प्रस्तुत कर दिए गए हैं । इस परिवर्तन क्रम को रोका नहीं जा सकता । जो पुरानी प्रथाओं पर ही अड़ा रहेगा, उसे न केवल घाटा ही घाटा उठाना पड़ेगा, वरन् उपहासास्पद भी बनना पड़ेगा ।

मान्यताएँ, विचारणाएँ, निर्धारण और क्रियाकलाप आदि भी समय के परिवर्तन से प्रभावित हुए बिना रहते नहीं । उनकी सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती । धर्मशास्त्र भी समय की मर्यादाओं में बँधे रहे हैं और उनमें प्रस्तुत बदलाव के आधार पर परिवर्तन होते रहे हैं । स्मृतियाँ और सूत्र ग्रंथ भी भिन्न भिन्न ऋषियों ने अपने अपने समय के अनुसार, नए सिरे से लिखने की आवश्यकता समझी और वह सुधार ही जनजीवन में मान्यता प्राप्त करता रहा । इसका कारण उन निर्माताओं में परस्पर विवाद या विग्रह होना नहीं है, वरन् यह है कि बदलती परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए धर्म प्रचलन के स्वरूप में भी भारी हेर फेर किया गया ।

प्राचीनकाल में जमीन में गड्ढा खोदकर गुफाएँ विनिर्मित कर ली जाती थीं । बाद में कुटिया बनाना अधिक सरल और सुविधाजनक लगा । इसके बाद अब तो भूमि संबंधी कठिनाई को देखते हुए, आगे बढ़कर सीमेंट ओर लोहे के सहारे भवन निर्माण का प्रयोग निरंतर बढ़ता जा रहा है । लकड़ी और गोबर से ईंधन की आवश्यकता पूरी करने की प्रथा पिछले दिनों रही है, पर उनका पर्याप्त मात्रा में न मिलना, इस प्रयास को तेजी से कार्यान्वित कर रहा है कि गोबर गैस या खनिज गैस से काम लिया जाए । जहाँ इफरात है, वहाँ बिजली से भी ईंधन का काम लिया जा रहा है । खनिज तेल भी किसी प्रकार उस आवश्यकता की पूर्ति कर रहे हैं । अब तो सूर्य की धूप भी ईंधन की जगह प्रयुक्त होने लगी है । इन परिवर्तनों में आवश्यकता के अनुरूप आविष्कार होते चलने की उक्ति ही सार्थक सिद्ध होती है ।

समय पीछे नहीं लौटता, वह निरंतर आगे ही बढ़ता है । उसके साथ ही मान्यताओं में, प्रचलनों में भी परिवर्तन होता चलता है । ऐसा आग्रह कोई कदाचित् ही करता हो, कि जो पहले दिनों माना या किया जाता रहा है, वही पत्थर की तरह सदा सर्वदा जारी रहना चाहिए । ऐसे दुराग्रही तो शायद बिजली का प्रयोग करने और नल का पानी पीने से भी ऐतराज कर सकते हैं ? उन्हें शायद गुफा बनाकर रहने का भी आग्रह हो, क्योंकि पूर्व पुरुषों ने निवास के लिए उसी प्रक्रिया को सरल समझा था ।

कभी मिट्टी के खपरों पर लेखन का काम लिया जाता था । बाद में चमड़े, भोजपत्र, ताड़पत्र आदि पर लेखन कार्य चलने लगा । कुछ दिनों हाथ का बना कागज भी चला, पर अब तो सर्वत्र मिलों का बना कागज ही काम में आता है । हाथ से ग्रंथों की नकल करने का उपक्रम लंबे समय तक चलता रहा है, पर अब तो छपाई की सरल और सस्ती सुविधाएँ छोड़ने के लिए कोई तैयार नहीं । तब रेल मोटर आदि की आवशकयता न थी, पर अब तो छपाई की सरल और सस्ती सुविधाएँ छोड़ने के लिए कोई तैयार नहीं । तब रेल–मोटर आदि की आवश्यकता न थी, पर अब तो उनके बिना परिवहन और यातायात का काम नहीं चलता । डाक से पत्र व्यवहार करने की अपेक्षा घोड़ों पर लंबी दूरी पर संदेश भेजने की प्रथा अब एक प्रकार से समाप्त ही हो गई है ।

परिवर्तन के साथ जुड़े हुए नए आयाम विकसित करने की आवश्यकता अब इतनी अनिवार्य हो गई है कि उसे अपनाने से कदाचित् ही कोई इनकार करता हो ? घड़ी का उपयोग करने से अब कदाचित् ही कहीं एतराज किया जाता हो ? समय हर किसी को बाधित करता है कि युग धर्म पहचाना जाए और उसे अपनाने में आनाकानी न की जाए । नीति–निष्ठा एवं समाज–निष्ठा के संबंध में शाश्वत हो सकता है, पर रीति रिवाजों, क्रिया कलापों, उपकरणों आदि प्रचलित नियम अनुशासन के संबंध में पुरातन परिपाटी के भक्त

तो कहे जा सकते हैं, पर अपने अतिरिक्त और किसी को इसके लिए सहमत नहीं कर सकते कि लकीर के फकीर बने रहने में ही धर्म का पालन सन्निहित है, जो पुरातन काल में चलता रहा है, उसमें हेर–फेर करने की बात किसी को सोचनी ही नहीं चाहिए, ऐसा करने को अधर्म कहा जाएगा और उसे करने वाले पर पाप चढ़ेगा ।

किसी भी भली–बुरी प्रथा को अपनी और पूर्वजों की प्रतिष्ठा का प्रश्न बना कर उस पर अड़ा और डटा तो रहा जा सकता है, पर उसमें बुद्धिमानी का समावेश तनिक भी नहीं है । मनुष्य प्रगतिशील रहा है और रहेगा । वह सृष्टि के आदि से लेकर अनेक परिवर्तनों के बीच से गुजरता हुआ आज की स्थिति तक पहुँचा है । यह क्रम आगे भी चलता ही रहने वाला है । पुरातन के लिए हठवादी बने रहना किसी भी प्रकार, किसी के लिए भी हितकारी नहीं हो सकता । युग धर्म को अपनाकर ही मनुष्य आगे बढ़ा है और आगे भी उसके लिए तैयार रहेगा । समय का यह ऐसा तकाजा है, जिससे इनकार नहीं किया जा सकता ।

गरीबों द्वारा अमीरी का आडम्बर

रोम के एक दार्शनिक के मन में भारत की महत्ता देखने की ललक उठी । समय और धन खर्च करके आए, घूमे और रहे । लौटे तो उदास थे । साथियों ने पूछा तो केवल इतना कहा, ''भारत में जहाँ गरीब अधिकांश रहते हैं, वहाँ भी अमीरों जैसा स्वाँग बनाया जाता है ।'' ऐसा ही कथन एक जापानी शिष्ट मंडल का भी है । उन्होंने भ्रमण के बाद कहा था, यहाँ अमीरी का माहौल है, परंतु उसकी छाया में पिछड़े, गए–गुजरे लोग रहते हैं ।

प्रश्न उठता है कि ऐसी विडम्बना क्यों कर बन पड़ी ? अमीरों में जो दुर्गुण पाए जाते हैं, वे यहाँ जन–जन में विद्यमान हैं, किंतु प्रगतिशीलों में जो सद्गुण पाए जाने चाहिए, उनका बुरी तरह अभाव है । इस कमी के रहते गरीबी ही नहीं, अशिक्षा, गंदगी, कामचोरी जैसी अनेकों पिछड़ेपन की निशानियाँ बनी ही रहेंगी । वे किसी बाहरी

संपत्ति के बलबूते दूर न हो सकेंगी । भूमि की अपनी उर्वरता न रहे, तो बीज बोने वाला, सिंचाई–रखवाली करने वाला भी उपयुक्त परिणाम प्राप्त न कर सकेगा ।

मनुष्य की वास्तविक संपदा उसका निजी व्यक्तित्व है । वह जीवंत स्तर का हो, तो उसमें वह खेत–उद्यानों की तरह अपने को निहाल करने वाली और दूसरों का मन हुलसाने वाली संपदाएँ प्रचुर मात्रा में उत्पन्न हो सकती हैं, पर चट्टान पर हरियाली कैसे उगे ? व्यक्तित्व अनायास ही नहीं बन जाता । वह इर्द–गिर्द के वातावरण से अपने लिए प्राणवायु खींचता है । जहाँ विषाक्तता छाई हुई हो, वहाँ साँस लेना तक कठिन हो जाएगा । लंबे समय तक जीवित रहने की बात तो वहाँ बन ही कैसे पड़ेगी ?

लंबे समय तक दुर्बलता के शिकार रहने वालों को धीरे धीरे कई प्रकार की बीमारियाँ घेरती और दबोचती रहती हैं । छूत की बीमारियाँ एक से दूसरों को लगती और भले चंगों को चपेट में लेती चली जाती हैं । लंबे समय की गुलामी और अवांछनीयता स्तर की मूढ़ मान्यताओं, दुष्प्रवृत्तियों के संबंध में भी यही बात है । वे यदि निर्बाध गति से बढ़ती रहें, तो किसी भी समुदाय को खोखला किए बिना नहीं रहतीं ।

देश की दरिद्रता प्रख्यात है । अशिक्षा, गंदगी और कुटेबों की बात भी छिपी हुई नहीं है । पर इस बात को समझने में जरा अधिक जोर लगाना पड़ेगा कि भारत में अमीरी का प्रदर्शन क्यों होता है ? यहाँ अमीरों के साथ जुड़े हुए, प्रमुख दीख पड़ने वाले काले पक्ष को विशेष रूप से देखना होगा । यों इसके अपवाद भी देखे जाते हैं । अमीरी सदा अवांछनीयताएँ ही उत्पन्न नहीं करतीं । सदुपयोग कर सकने वाले, उसका अपने तथा दूसरों के लिए समुचित लाभ भी उठा लेते हैं, पर आमतौर से वैसा कुछ नहीं बन पड़ता ।

अपने देश में बड़प्पन का अर्थ आलस्य और अपव्यय है । दुर्व्यसनों की एक पूरी बटालियन भी साथ लग जाती है । देखा गया

है कि अपने देश में परिश्रम करना पड़े तो उसे दुर्भाग्य का चिह्न माना जाएगा । राजा, सामंत, जमींदार, अमीर–उमराव, संत महंत स्तर के आदमी मेहनत करने में अपना अपमान समझते हैं । वे अपनी शारीरिक सेवाओं के लिए भी समीपवर्ती लोगों पर आश्रित रहते हैं । लड़की की शादी उस घर में करना चाहते हैं, जहाँ वह पलंग पर बैठी राज करे । जिसे दिन भर काम करना पड़े, उसे नीचा समझा जाता है । नेक–भले व्यक्तियों को भी छोटा इसलिए ही माना जाता है कि वे दिन भर कड़े परिश्रम में लगे रहते हैं । अमीर या मालदार तो उन्हें ही समझा जाता है, जिन्हें कुछ न करने की सुविधा हो । यह कामचोरी–हरामखोरी की आदत जहाँ भी जड़ जमाने लगेगी, वहाँ से ''बेशरम बेल'' की तरह हटने का नाम ही न लेगी ।

अमीरों के साथ जुड़ा–अपव्यय एक भारी रोग है । इसी के सहारे तो किसी को अमीर होने के भ्रम में डाला जा सकता है । फैशन, जेवर, ठाटबाट, नशेबाजी जैसे दुर्व्यसन तो अमीरी के प्रतीक बन गए हैं । विवाह–शादियों के अवसर पर तो यह अमीरी सिर पर चढ़ बैठती है और आवश्यक साधनों को भी बेच कर उन्हें उसकी फुलझड़ी जलाने के लिए आकुल–व्याकुल कर देती है । दूल्हे और दुल्हन को इस तरह सजाया जाता है मानो वे राजकुमार और राजकुमारी से कम न हों । बारातों और दावतों को देख कर यह कोई अनुमान नहीं लगा सकता कि यह लोग दैनिक जीवन में रोटी का जुगाड़ भी मुश्किल से जुटा पाते होंगे । ऐसा लगता है मानों इन्हें कहीं से मुफ्त का खजाना मिल गया हो ?

औसत भारतीय को दिनभर में कुछ घंटे का ही काम मिलता है । शेष तो वे ज्यों–त्यों मटरगश्ती, आवारागर्दी, ठिल्लेबाजी में ही बिताते रहते हैं । यदि इस समय को कठोर श्रम के साथ नियोजित किया जा सके, तो कोई कारण नहीं कि उसके बदले वे साधन न मिल सकें, जिनके सहारे खुशहाली की परिस्थितियों में रहा जा सकता है । कृषि कार्य में निरत व्यक्ति यदि चाहे, तो अपने प्रायः आधे

समय में खालीपन को कुटीर उद्योगों में लगा सकता है और अतिरिक्त आजीविका का कोई सुयोग बिठा सकता है ।

जिन्हें पैसे की आवश्यकता या तंगी नहीं, वे बचत वाले समय को शिक्षा संवर्धन में, गंदगी के स्थान पर स्वच्छता नियोजित करने में लगा सकते हैं । परिवार के साथ मिल जुलकर उस परिकर को सभ्य जनों जैसा बना सकते हैं । स्वास्थ्य रक्षा, आजीविका अभिवृद्धि, कलाकौशल, शिक्षा–विस्तार जैसे अनेक कार्य हैं, जिनके लिए यदि उत्साह उभरे तो कोई कारण नहीं कि आज की अपेक्षा कल अधिक संपन्न, शिक्षित, सभ्य एवं प्रतिभाशाली न बना जा सके ।

अपव्ययों को रोकने पर, पेंदे में छेद वाले घड़े का सूराख बंद कर देने की तरह पानी भरा रह सकता है और प्यासे मरने की शिकायत से बचा जा सकता है, किंतु उस दुर्भाग्य को क्या कहा जाए, जो समय के साथ श्रम को जुड़ने ही नहीं देता ? अमीरी प्रदर्शन के प्रेत पिशाच का उन्माद सिर से उतरने ही नहीं देता ? इस मूर्छना के रहते उठने, आगे बढ़ने और उपलब्ध क्षमताओं के सदुपयोग का उत्साह उभर ही नहीं पाता । इस मानसिकता के रहते न दरिद्रता से पीछा छूटने वाला है, न अशिक्षा से । प्रगति के दूसरे भी अनेकानेक आधार हैं, पर वे हस्तगत कैसे हों, जबकि पिछड़ापन अपने गुण, कर्म, स्वभाव का अविच्छिन्न अंग बन गया हो ?

अच्छा होता, हमें ऐसे उत्साहवर्धक प्रगतिशील वातावरण में रहने का अवसर मिला होता अथवा जहाँ ऐसी प्रेरणाएँ विद्यमान हैं, उनके साथ घनिष्ठता का संबंध स्थापित किया गया होता । इर्द–गिर्द ऐसा उत्साह उभरता दीख नहीं पड़ता, तो अन्यत्र अथवा भूतकाल में संपन्न हुए उन पुरुषार्थों से अवगत, प्रभावित होने का प्रयत्न किया ही जा सकता है, जो अभी भी प्रगतिशीलों की यशगाथा के रूप में कहीं कहीं तो विद्यमान हैं ही । ऐसी साक्षियाँ, इतिहास के पृष्ठों पर कम परिमाण में नहीं हैं ।

अग्रसर होना है, उसे उस अभ्यस्त मानसिकता को निरस्त करना पड़ेगा, जो हमें अमीरी के मुखौटा पहन कर वस्तुतः गई–गुजरी परिस्थितियों में रहने के लिए बाधित किए हुए हैं ।

तीनों उद्यान फलेंगे और निहाल करेंगे

शरीर के कण कण में संपन्नता भरी पड़ी है । आमतौर से उसे खोद निकालने के लिए श्रम और समय का सुनियोजन भर बन पड़ना है । अभिरुचि, उत्कंठा, मनोयोग एवं उत्साह का भी यदि साथ में नियोजन हो, तो फिर समझना चाहिए कि श्रम का स्तर अनेक गुना ऊँचा उठ गया । आलस्य और उपेक्षापूर्वक जैसे–तैसे बेगार भुगतने की तरह काम करना तो ऐसा ही है, जिसे ''न कुछ'' की तुलना में ' 'कुछ'' कहा जा सके ।

सुव्यवस्थित और सर्वांगपूर्ण काम करने से श्रम का मूल्य भी बढ़ता है और स्तर भी । मस्तिष्क में इससे सूझ–बूझ की क्षमता बढ़ती है, जिसके सहारे अभ्यस्त ढर्रे से आगे बढ़कर, कुछ अधिक उपयुक्त सोचा, किया और पाया जा सकता है । सुव्यवस्था एक उच्चस्तरीय कलाकौशल है, जो किसी भी काम को सर्वांगपूर्ण सुन्दर, सुसज्जित और कलात्मक बनाती है । संसार भर के प्रगतिशीलों को इसी आधार पर आश्चर्यजनक उन्नति करते देखा गया है ।

छप्पर फाड़कर कदाचित् ही किसी के घर में स्वर्ण वर्षा हुई हो ? दूसरों के सहारे, पराश्रित रहकर कदाचित् ही किसी ने गौरव भरा जीवन जिया हो ? उत्तराधिकार में भी किसी को वैभव मिल तो सकता है, पर हराम का माल हजम नहीं होता । जिसने परिश्रमपूर्वक कमाया नहीं है, वह उसका सदुपयोग भी कदाचित् ही कर सकेगा । उठाईगीर, लुच्चे–लफंगे, छल–छद्मों के सहारे आए दिन बहुत कुछ कमाते रहते हैं, पर मुफ्त के माल का सदुपयोग कर सकना कदाचित् ही किसी से बन पड़ा हो ? भोजन तभी हजम होता है, जब पचाने के लिए कड़ी मेहनत की जाए । मेहनत की, ईमानदारी की

कमाई ही फलती–फूलती देखी गई है । यदि शरीर को व्यस्त एवं उत्साह भरी श्रमशीलता के सहारे साध लिया जाए, तो न दरिद्रता से ही पाला पड़ेगा और न किसी का मुँह ताकने की अनीति पर उतारू होने की आवश्यकता पड़ेगी ।

संपन्नता के अतिरिक्त दूसरा उद्यान शिक्षा का है, जिसे बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता, एकाग्रता आदि के नाम से भी जाना जाता है । वकील, इंजीनियर, कलाकार, विद्वान, मनीषी आदि को देखकर अपना भी मन चलता है कि काश ! हमें भी ऐसा संयोग मिला होता, तो अधिक कमाने और अधिक सम्मान पाने की परिस्थिति हाथ लगी होती ? पर इस स्थिति से वंचित रहने का दोष परिस्थितियों या अमुक व्यक्तियों पर देना भी व्यर्थ है । यदि शिक्षा का महत्व समझा और उत्साह उभारा जा सके, तो बौद्धिक दृष्टि से समुन्नत बनने के लिए आवश्यक सुविधाएँ अनायास ही खिंचती चली आती हैं । संसार के अधिकांश मनीषी, प्रतिकूलताओं से जूझते हुए अपने लिए अनुकूलता उत्पन्न करते रहे हैं ।

इस लेखक को एक ऐसे साथी के संबंध में जानकारी है, जो एक वर्ष की जेल काटने के साथ साथ लोहे के तसले पर कंकड़ को कलम बनाकर अंग्रेजी पढ़ता रहा । एक पुराने अखबार ने ही पुस्तकों की आवश्यकता पूरी कर दी । साथियों में ही ऐसे मिल गए जो पढ़ने में प्रसन्नतापूर्वक सहायता करते रहे । एक वर्ष में ही इतनी सफलता अर्जित कर ली, जिसे देखकर लोगों को आश्चर्यचकित रहना पड़ा था । इसमें न जादू है, न चमत्कार । भीतर का प्रसुप्त यदि अँगड़ाई लेकर उठ खड़ा हो और कुछ कर गुजरने की उमंगों से अपने को अनुप्राणित कर ले, तो समझना चाहिए कि सरस्वती उसके आँगन में नृत्य करने के लिए सहमत हो गई । अन्य विभूतियों की तरह विद्या भी मनुष्य के आंतरिक आकर्षण से अनायास ही खिंचती चली आती है । संसार के प्रगतिशील मनीषियों का इतिहास इस संदर्भ में पग–पग पर साक्षी देने के लिए विद्यमान है ।

तीसरा उद्यान है—अंतःकरण क्षेत्र का, जिसमें भाव संवेदनाएँ मान सरोवर की तरह लहराती और गंगा भागीरथी की तरह उत्ताल तरंगों के साथ बहती हैं । मात्र निष्ठुरता ही एक ऐसी चट्टान है, जो इन उद्गमों का द्वार बंद किए रहती है । यही है वह उल्लास उद्गम, जिसमें देवता रहते, महामानव विकसते और ऋषि मनीषियों की चेतना निवास करती है । संकीर्ण स्वार्थपरता ही एक ऐसी बाधा है, जो मनुष्य को उदारमना बनकर उच्चस्तरीय सेवा साधना के लिए अजस्र अवसर उपलब्ध नहीं होने देती है ।

मनुष्य भटका हुआ देवता है । यदि वह अपने इस भटकाव से छुटकारा पा सके और महानता के राजमार्ग पर चलते रहने की विवेकशीलता अपना सके, तो उतने भर से ही स्वयं पार उतरने और अनेकों को पार उतारने की स्थिति अनायास ही बन सकती है । इसके लिए विद्वान या पहलवान होना आवश्यक नहीं । कबीर, दादू, रैदास, मीरा, शबरी आदि ने विद्वत्ता या संपन्नता के आधार पर वह श्रेय प्राप्त नहीं किया था, जिससे अब भी असंख्यकों को उच्चस्तरीय प्रेरणाएँ उपलब्ध करते देखा जाता है ।

मनुष्य के पास शरीर, मन और अंतःकरण यह तीन ऐसी खदानें हैं, जिनमें से इच्छानुसार मणिमुक्तक खोद निकाले जा सकते हैं । बाहरी सहयोग भी सत्पात्रों को अनायास ही मिल जाता है । अच्छे नंबरों से उत्तीर्ण होने वाले विद्यार्थियों को सहज छात्रवृत्तियाँ मिल जाती हैं । मात्र कुपात्र ही कभी भाग्य पर, कभी ग्रह नक्षत्रों पर और कभी जो भी सामने दीख पड़ते हैं, उसी पर दोष मढ़ते रहते हैं । गतिवानों को किसी ने रोका नहीं है । गंगा का प्रवाहमान संकल्प, उसे महासागर के मिलन तक पहुँचाए बिना बीच में कहीं रुका नहीं है ।

जिस तिस से सहारा पाने की भी समय कुसमय आवश्यकता पड़ सकती है, पर उसकी उपयोगिता उतनी ही स्वल्प है, जितनी संकट ग्रस्तों को कठिनाई से उबारने में कभी–कभी उदारचेताओं की सहानुभूति काम दे जाती है, उसी के सहारे जिन्दगी की लंबी मंजिल

को पार करना और बढ़ी चढ़ी सफलताओं के अनुदान–वरदान प्रस्तुत कर सकना संभव नहीं होता ।

आज की अदृश्य किंतु दो महती समस्याओं में से एक यह है कि लोग परावलंबन के अभ्यस्त हो चले हैं । दूसरों का ऊटपटांग अनुकरण करते ही उनसे बन पड़ता है । निजी विवेक इतना तक नहीं जागता कि स्वतंत्र चिंतन के सहारे जो उपयुक्त है, उसे अपनाने और जो अनुपयुक्त है, उसे बुहार फेंकने तक का साहस जुटा सकें । यह परावलंबन यदि छोड़ते बन पड़े, तो मनुष्य की उपयुक्तता को अपनाने का साहस भीतर से ही उठ सकता है और "एकला चलो रे" का गीत गुनगुनाते हुए उपरोक्त तीनों क्षेत्रों में निहाल कर सकने वाली संपदा उपार्जित कर सकता है ।

आज की सबने बड़ी, सबसे भयावह समस्या एक ही है, मानवी चेतना का परावलंबन, अंतः स्फुरणा का मूर्छाग्रस्त होना, औचित्य को समझ न पाना और कँटीली झाड़ियों में भटक जाना । अगले दिन इस स्थिति से उबरने के हैं । उज्ज्वल भविष्य की समस्त संभावनाएँ इसी आधार पर विनिर्मित होंगी । अगले दिनों लोग दीन–हीन, मनो–मलीन, उद्विग्न–विक्षिप्त स्थिति में रहना स्वीकार न करेंगे । सभी आत्मावलंबी होंगे और किसी एक पुरुषार्थ को अपनाकर ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी बन सकने में पूरी तरह सफल होंगे । वातावरण मनुष्य को बनाता है, यह उक्ति गए गुजरे लोगों पर ही लागू होती है । वास्तविकता यह है कि आत्मबल के धनी, अपनी संकल्प–शक्ति और प्रतिभा के सहारे अभीष्ट वातावरण बना सकने में पूरी तरह सफल होते हैं ।

दुरुपयोग के रहते अभाव कैसे मिटे

विभूतियों को सही गलत तरीके से अर्जित कर लेना एक बात है और उनका सदुपयोग कर सकना सर्वथा दूसरी । संपदाओं के संग्रहकर्ता इस संसार में असंख्यों भरे पड़े हैं, पर जो उनका सही सदुपयोग कर पाए, वे खोजने पर भी उँगलियों पर गिनने जितने ही

मिलेंगे । इसे एक विडंबना ही कह सकते हैं कि सफलताएँ अर्जित करने वाले को सदुपयोग नहीं आता और जो उसे सही प्रयोजनों में प्रयुक्त कर सकते हैं, वे पुरुषार्थ को अर्जन के स्तर तक पहुँचा सकने में समर्थ नहीं हो पाते । काश, प्रतिभा और सदाशयता का एक ही केन्द्र पर केन्द्रीकरण बन पड़ा होता, तो यह संसार कितना सुखी और समुन्नत दृष्टिगोचर होता ?

सदुपयोग न बन पड़े तो इसमें भी किसी प्रकार संतोष किया जाता रह सकता है कि जो कमाया गया था, वह निरर्थक गुम गया, पर कष्ट तब होता है कि जिसके सदुपयोग से व्यक्ति और समाज का बहुत कुछ हित साधन हो सकता था, उसका ठीक उल्टा प्रयोग बन पड़ा और अनर्थ का वह सरंजाम जुटा, जिससे कम से कम बचा तो जा सकता था ।

समर्थ व्यक्ति ही उद्दण्डता अपनाते और अनाचार पर उतारू होते हैं । संपन्न लोग ही अपने वैभव को ऐसे प्रयोजनों में नियोज़ित करते हैं, जिनसे शोषण, उत्पीड़न और पतन–पराभव का माहौल बने । संसार में छल, छद्म और प्रपंच के जाल बिछाने वालों में प्रधानतया वही लोग रहे हैं, जिन्हें विद्वान समझा और बुद्धिमान कहा जाता है । युद्धोन्माद भड़काने और असंख्यों पर अगणित विपत्तियाँ ढाने वालों में सत्ताधारी ही अग्रणी रहे हैं । अच्छा होता यह मूर्धन्य कहे जाने वाले सफल न होते । उस सफलता को क्या कहा जाए ? जो विभूतियों के रूप में जब किसी पर विषम ज्वर की तरह चढ़ दौड़ती हैं, तो उसे एक प्रकार का उन्मादी बनाए बिना नहीं रहतीं । बदहवासी में लोग अधपगलों जैसी उद्दण्डता अपनाने के लिए उतारू हो उठते हैं ।

गए–गुजरे लोग किसी का बहुत भला नहीं कर सकते । उनके लिए अपनी गाड़ी घसीटना ही भारी पड़ता है । वे सब तो दरिद्रता, दुर्बलता और अशिक्षा के दल–दल में धँसे रहने के कारण किसी की कुछ भलाई भी नहीं कर सकते । सेवा सहायता का सुयोग उनसे बन ही नहीं पड़ता । इतने पर भी यह संतोष की बात है कि तथाकथित

समर्थों की तरह वे अपनी चिनगारी को दावानल बनाकर, सुविस्तृत वन प्रदेशों को जला डालने की दुष्टता तो नहीं कर पाते ।

लोक चिंतन को दिग्भ्रांत करने में जितना साहित्यकारों, कलाकारों, धर्मोपदेशकों, नेतृत्व करने वालों ने सर्वसाधारण को भड़काया है, उतना कदाचित् ही संसार के समस्त अशिक्षित कर सके हों । संपत्ति वालों ने, कलाकारों, साहित्यकारों, बुद्धिजीवियों को अपने पैसे के बल पर खरीदा और कठपुतली की तरह नचाया है । कभी वैज्ञानिकों की स्वतंत्र सत्ता रही होगी और वे लोकोपयोगी आविष्कार करते रहे होंगे, पर अब तो साधनों के सम्मुख उन्हें भी आत्मसमर्पण कर देना पड़ा है । वे वही सोचते–खोजते हैं, जो उनके अन्नदाता उनसे चाहते हैं । किसी की बुद्धिमत्ता ही नहीं, ईमान खरीद लेने तक का दावा तथाकथित सुसंपन्न करने लगे हैं । उन्हें देवताओं और भगवानों को भी अपने साधनों के बल पर कुछ भी करने के लिए विवश करने की जुर्रत होने लगी है ।

साधनों की कमी पड़ने से कठिनाई बढ़ने की बात समझ में आती है, पर यह तथ्य और भी अधिक गंभीरतापूर्वक समझा जाना चाहिए कि उनका बाहुल्य होने पर भी यदि दुरुपयोग चल पड़े, तो विपत्तियाँ और भी अधिक बढ़ेंगी । चाकू न होने पर शाक तरकारी काटने का काम अन्य किसी उपकरण से भी लिया जा सकता है, पर कोई चमकीला, धारदार तथा कीमती चाकू पेट में घुस पड़े, तो समझना चाहिए अभाव की तुलना में वह उपलब्धि और भी अधिक भारी पड़ी ।

पुरातन काल में साधन आज की अपेक्षा निश्चित ही बहुत कम थे । वैज्ञानिक आविष्कारों का तो तब सिलसिला तक नहीं चला था । इतने पर भी उन दिनों इतनी अधिक प्रसन्नता एवं सहकारिता का अनुभव होता था, जिसे देखते हुए वह समय सतयुग कहलाता था । मिलबाँटकर खाने की नीति अपनाए जाने पर जो था उसी में भली प्रकार काम चल जाता था न कहीं विग्रह था न संकट । ऐसे

वातावरण में अभावों की अनुभूति तो हो ही कैसे सकती है ? मनुष्य की वास्तविक आवश्यकताएँ अत्यंत स्वल्प हैं । उन्हें कुछ ही घंटे के साधारण श्रम से सुविधापूर्वक उपलब्ध किया जा सकता है । हैरान तो वह तृष्णा करती है, जिसके पीछे दुरुपयोग की ललक लालसा जुड़ी होती है । यदि उस बौद्धिक विभ्रम से निपटा जा सके, तो गुजारे में कमी पड़ने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, मनुष्य सहज ही इतना अधिक उपार्जन करता रह सकता है कि दूसरों की सहायता करने का भी सुयोग बनता रहे ।

अनाचार की अभिवृद्धि का एक ही कारण है, अनावश्यक एवं अतिशय मात्रा में सज्जा सजाना, विलासिता के साधन जुटाना एवं संग्रह की लिप्सा से लालायित रहना । आग में ईंधन पड़ने की तरह हविश बढ़ती ही जाती है । विलासिता और अहंता के व्यामोह में, जो कमाया गया था, वह कम पड़ता ही रहता है, साथ ही यह उत्सुकता चल पड़ती है कि किसी प्रकार अपनों या दूसरों के हक का जितना भी कुछ छीना झपटा जा सके, उसमें कोताही न की जाए । इस प्रकार की ललक, संचय तो बहुत कर लेती है, पर उसका सदुपयोग सूझ नहीं पड़ता । भाव संवेदना एवं चिंतन में उत्कृष्टता न होने पर मात्र अनियंत्रित उपयोग ही एक मात्र मार्ग रह जाता है, जिसकी गहरी खाई कुबेर जैसी संपदा और इन्द्र जैसी प्रभुता पाकर भी पटती नहीं है । इस मनःस्थिति में संतोष कहाँ ? चैन कैसा ? प्रसन्नता और प्रफुल्लता का अनुभव कर सकना तो कोसों पीछे रह जाता है ।

बीमारी का निदान बन पड़ने के उपरांत ही सही उपचार का सुयोग बनता है । प्रस्तुत समस्याओं का स्वरूप भले ही अनेक प्रकार का दीख पड़ता है, पर उसका मूल कारण एक ही है, बटोरना और बिखेरना । इस नीति को अपनाने वालों को खपते–पिसते तो निरंतर रहना पड़ता है, पर ऐसा सुयोग नहीं बन पड़ता कि चल रहे पुरुषार्थ के सहारे अपना हित साधन करते बन पड़े और दूसरों की सेवा सहायता करने का, पुण्य परमार्थ, यश–सम्मान भी हाथ लगता चले ।

अपव्ययी प्रकारांतर से दुर्गुणी हुए बिना नहीं रहता । निजी आवश्यकताओं की पूर्ति तो थोड़े में ही सरलतापूर्वक संभव हो जाती है, फिर अतिरिक्त उत्पादन का क्या हो ? उदारता के अभाव में उसे अभावग्रस्तों के लिए लगा सकने का तो साहस ही नहीं उभरता, फिर निजी आवश्यकताओं के उपरांत जो बचे, उसका आखिर हो क्या ? मात्र एक ही मार्ग रह जाता है–दुरुपयोग । इस प्रकार निकृष्ट स्तर की स्वार्थ संकीर्णता में फँसे और अधिक उपार्जन करते रहने में सफल समझे जाने वाले, बड़े कहे जाने वाले लोगों की रीति नीति साधारण जनों को भी प्रभावित करती है । वे भी वैसा ही अनुकरण करने के लिए लालायित रहने लगते हैं । योग्यता कम, परिश्रम कम, अपव्यय की अभिलाषा गगनचुंबी, इसी माहौल में अनाचारों का टिड्डी दल दौड़ पड़ता है और संसार की हरीतिमा को सफाचट करके रख देता है ।

साधनों से भी अधिक सद्गुणों की आवश्यकता

जहाँ भी आवश्यकताओं और अभावों की चर्चा होती है, वहाँ साधन–संवर्धन के लिए प्रयत्नरत होने का सुझाव दिया जाता है । इसमें कुछ अनुचित भी नहीं है । बढ़े हुए साधनों के सहारे अनेकों उपयोगी कार्य किए जा सकते हैं । इसलिए आप्तजन ''सौ हाथों से कमाने'' का उत्साह उभारते रहे हैं, पर उनके साथ ही ''हजार हाथों से खर्च करने'' का निर्देश भी दिया जाता है । यहाँ दुरुपयोग कर गुजरने के लिए नहीं, वरन् सदाशयता भरे प्रगतिशील प्रयोजनों के लिए उस उपार्जन को नियोजित करने के लिए प्रोत्साहन दिया गया है । वैसा अनावश्यक संचय न किया जाए, जिसकी परिणति आमतौर से दुर्व्यसनों के लिए ही होती है, जो ईर्ष्या उभारती है और दूसरों को भी उसी अवांछनीय मार्ग पर चल पड़ने के लिए बरगलाती है ।

पारा पचता नहीं । वह शरीर के विभिन्न अंगों में से फूट–फूट कर निकलता है । इसी प्रकार अनावश्यक और बिना परिश्रम का

कमाया हुआ अथवा निष्ठुरता की मानसिकता से विलासिता, जैसे दुष्प्रयोजनों में उड़ाया गया धन, हर हालत में अनर्थ ही उत्पन्न करेगा । इसके दुष्परिणाम ही सामने आएँगे । खुले तेजाब को, जलती आग को कोई कपड़ों में लपेट कर नहीं रखता । इसी प्रकार उत्पादन में लगी हुई पूँजी के अतिरिक्त, निजी खर्च के लिए मौज मजे में उड़ाने के लिए कुछ संचय जमा नहीं किया जाना चाहिए, अन्यथा उससे मात्र गलत परंपराएँ ही जन्म लेंगी । अमीरों की संतानें, आमतौर से आरामतलब, निकम्मी और दुर्गुणी ही देखी गई हैं । जो कुछ परिश्रमपूर्वक ईमानदारी से नहीं कमाया गया है, जिसे उपयोगी प्रयोजन में लगाने से रोककर अनियंत्रित संकीण स्वार्थपरता के लिए जमा कर रखा गया है, उसकी अवांछनीय प्रतिक्रिया न केवल संचयकर्ता को, वरन् उससे किसी भी रूप में प्रभावित होने वाले को भी पतनोन्मुख प्रवृत्तियों में धकेले बिना न रहेंगी ।

दुरुपयोग की तरह निष्क्रियता–निरुत्साह भी अनिष्टकारक है । आलसी–प्रमादी ही आमतौर से दरिद्र पाए जाते हैं । उत्साह का अभाव ही उन्हें शिक्षा से वंचित रखता है । सभ्यता के अनुशासन को अभ्यास में न उतार पाने के कारण ही लोग अनगढ़ और पिछड़ी स्थिति में पड़े रहते हैं । यदि उनके इन दोष दुर्गुणों को हटाया घटाया जा सके, तो इतने भर से निजी प्रतिभा में नया उभार आ सकता है और उस दरिद्रता से छुटकारा मिल सकता है, जिसके कारण कि आए दिन अभावों, असंतोषों और अपमानों का दबाव सहना पड़ता है ।

कहने को तो यों भी कहा जाता है कि अभावग्रस्त परिस्थितियों के कारण मनुष्य को त्रास सहने पड़ते हैं, पर गंभीरता के साथ निरीक्षण–परीक्षण करने पर तो दूसरी ही बात सामने आती है । व्यक्तित्व की गहराई में घुसी हुई अवांछनीयताओं के कारण ही मनुष्य गई गुजरी परिस्थितियों में पड़ा रहता है । श्रमिकों में कितनी ही अच्छी कमाई करते हुए भी देखे जाते हैं, पर उनकी आदत में नशेबाजी, जुआ, आवारागर्दी जैसी कितनी ही बुरी आदतें जड़ जाती

हैं । जो कमाते हैं, उसे गँवा देते हैं और अभावों की शिकायत करते हुए ही जिंदगी गुजारते हैं । उनका परिवार भी इसी अनौचित्य की चक्की में पिसता और बरबाद होता रहता है । बात श्रमिकों तक ही सीमित नहीं है, वह धनिकों के ऊपर और भी अधिक स्पष्ट रूप से लागू होती है । दुरुपयोग उन्हें भी दुर्गुणी, दुर्व्यसनी बनाता ही है । अपव्यय के रहते किसी के पास खुशहाली रह सकेगी या उसके माध्यम से उपयोगी प्रगति संभव हो सकेगी, इसकी आशा अपेक्षा नहीं करनी चाहिए ।

धनिकों की, विद्वानों की, समर्थों की, कलाकारों की अपने देश में कमी नहीं । देश में गरीब और अशिक्षितों का बाहुल्य होते हुए भी, प्रतिभावानों का इतना बड़ा वर्ग मौजूद है, जो अपने साधनों को सर्वतोमुखी प्रगतिशीलता के लिए नियोजित कर सके, तो उतने भर से ही उत्थान, उत्कर्ष और अभ्युदय का वातावरण देखते देखते बन सकता है । महापुरुषों का आंकलन दो ही आधारों पर होता है, एक तो उनने समर्थता अर्जन के लिए कठोर प्रयत्न किया है, दूसरा उन उपलब्धियों को उदारतापूर्वक प्रगतिशीलता के पक्षधर सत्प्रयोजनों के लिए नियोजित कर दिया होता है । यह दो कदम उठाने पर कोई महामानवों की पंक्ति में बैठ सकने की स्थिति में पहुँच जाता है । ऐसे लोगों का बाहुल्य जिस भी समुदाय में, क्षेत्र में होगा, वहाँ न सौहार्द्र की कमी रहेगी, न समर्थता की, न प्रगतिशीलता की ।

उदारता, प्रामाणिकता और परमार्थ–परायणता, यह तीन ही ऐसे गुण हैं, जिनका उपार्जन–अभिवर्धन करने पर व्यक्ति न केवल अपने को सुखी समुन्नत बना सकता है, वरन् उसके क्रियाकलापों से संबद्ध समूचा परिकर ऊँचा उठता, आगे बढ़ता चला जाता है ।

अगली शताब्दी में उज्ज्वल भविष्य की संभावनाएँ विनिर्मित करने के लिए क्या संपदा जुटानी पड़ेगी ? किस स्तर की समृद्धि जुटानी पड़ेगी ? किस प्रकार की योजना और विधि व्यवस्था बनानी पड़ेगी ? इसका ऊहापोह करना समय रहते उचित भी है और

आवश्यक भी, किंतु इतना तो ध्यान रखना ही पड़ेगा कि लोगों की मानसिकता यदि घटिया रही, उनके दृष्टिकोण का दौर यदि आज की तरह ही चलता रहा, तो जो इच्छित एवं उपयुक्त है, उसे उपलब्ध कर सकना शताब्दियों सहस्राब्दियों में भी संभव न हो सकेगा ।

साधनों का महत्व तो अवश्य है, पर इतना नहीं कि उन्हें व्यक्तित्व के स्तर से भी ऊँचा माना जा सके । गरीब देशों के लोग सर्वथा निठल्ले–निकम्मे ही रहते हों, ऐसी बात भी नहीं है । इन्हें बहुत कुछ पाने की इच्छा उत्सुकता न रहती हो, सो बात भी नहीं है । शरीर संरचना भी उनकी एक जैसी ही होती है । कई तो उनमें से शिक्षित और समर्थ भी रहते हैं, इतने पर भी गई गुजरी परिस्थितियाँ उनका पीछा नहीं छोड़तीं । अभावों, कष्टों, विद्रोहों और संकटों का माहौल कहीं न कहीं से आ ही धमकता है । व्यक्तित्व को गरिमा संपन्न बना सकने में अड़ा रहने वाला अवरोध ही प्रधान इसका कारण होता है, जिसके कारण या तो वे अभीष्ट अर्जन–उत्पादन कर ही नहीं पाते, या फिर से उसे स्वभावगत अस्त–व्यस्तता के कारण ऐसे ही गँवा–उड़ा देते हैं ।

इसके ठीक विपरीत यह भी पाया गया है कि साधु, सज्जन, सद्गुणी, सेवा भावी लोग, नगण्य साधनों से सदाशयता की रीति नीति अपनाए हुए, हँसता–हँसाता और खिलता–खिलाता जीवन जी लेते हैं । उन्हीं परिस्थितियों में न केवल स्वयं को, वरन् अन्य पिछड़े हुओं को भी ऊँचा उठाने, आगे बढ़ाने में समर्थ होते हैं । ऐसे ही आदर्शवादी, शालीनता संपन्नों का अपना पुरातन इतिहास जीवन्त स्थिति में रहा है । वह साधु, ब्राह्मण, वानप्रस्थ, परिव्राजकों का समुदाय, न केवल अपने देशवासियों का स्तर असाधारण रूप से ऊँचा उठाने में समर्थ हुआ था, वरन् उन्हीं मुट्ठी भर लोगों ने देश–देशांतरों में प्रगतिशीलता का, सर्वतोमुखी सुसंपन्नता का, सुसंस्कारिता का वातावरण बनाकर रख दिया था । गरीबी किसी के मार्ग में बाधक नहीं होती । मात्र कुपात्रता ही उसकी आड़ में छिपकर सर्वत्र गंदगी फैलाती और पतन–पराभव का माहौल बनाती रहती है ।

उदारता अपनाई ही जाए

शरीर कितना ही सुन्दर–सुसज्जित क्यों न हो, उसकी प्रतिष्ठा–उपयोगिता तभी है, जब उसमें जीव चेतना विद्यमान हो । निष्प्राण हो जाने की स्थिति में तो, तथाकथित प्रेम प्रकट करने वाले भी उसे हटा देने का जुगाड़ बनाने में लग जाते हैं । सज्जनता की शोभा, उपयोगिता, आवश्यकता कितनी ही क्यों न हो, पर वह श्रेष्ठ स्तर की तभी मानी जाएगी, जब उसके साथ शालीनता की प्राणचेतना का सुनिश्चित समावेश हो ।

संपत्ति से सुविधा साधन भर बढ़ या मिल सकते हैं किंतु यदि उनका सदुपयोग न बन पड़े, तो वह दुधारी तलवार बन जाती है । वह रक्षा भी कर सकती है और अपनी तथा दूसरों की हत्या करने के काम भी आ सकती है । पिछले दिनों भूल यही होती रही है कि एक मात्र संपत्ति के ही गुण गाए जाते रहे । यहाँ तक समझा जाता रहा है कि उसके सहारे व्यक्ति की प्रतिभा–प्रतिष्ठा भी बढ़ सकती है । यह मान्यता ही आदि से अंत तक भ्रांतियों से भरी हुई है । यदि ऐसा ही रहा होता, तो धन संपन्नों के द्वारा लोकमंगल के श्रेष्ठ प्रयास बन पड़े होते और पिछड़ेपन का नाम निशान भी शेष कहीं न रहा होता । यदि सर्वसाधारण को पिछड़ेपन से, अभावग्रस्तता से उबारने में संचित संपदाओं को खर्च किया जा सका होता, तो संसार का नक्शा ही बदल गया होता ।

संसार में इतनी धन संपदा है कि उसे मिल–बाँट कर खाने पर सभी लोग सुख शांति से रह सकें और संतोषपूर्वक सर्वतोमुखी प्रगति का पथ प्रशस्त करते रहें । विलास, संचय और अहंकार के प्रदर्शन में उसका उपयोग होने लगे, तो समझना चाहिए कि वह निरर्थक ही नहीं गई, वरन् उसने अनर्थ विनिर्मित करने के लिए अवांछनीय वातावरण भी बनाकर रख दिया ।

हाथी पर अंकुश न लगे, तो वह खेत–खलिहानों को रौंदता, पेड़

पौधों को उखाड़ता और झोंपड़ों को धराशायी करता चला जाएगा । उसकी चपेट में जो प्राणी आ जाएँगे, उनकी भी खैर नहीं । संपदा भी उन्मत्त हाथी की तरह है, जिस पर उदारता का अंकुश आवश्यक है । यदि झरने के पानी का सीधे रास्ते से निकलना रोक दिया गया, तो उसका परिणाम बाढ़ के रूप में भयंकरता दिखाने ही लगेगा ।

प्रस्तुत वातावरण में एक ही सबसे बड़ा अनर्थ दीख पड़ता है कि हर कोई अपने उपार्जन, वैभव को मात्र अपने लिए ही खर्च करना चाहता है । वह अपनापन भी विलासिता और अहंकारी ठाट–बाट प्रदर्शन तक ही सीमित है । यह प्रचलन इसी प्रकार बना रहा, तो इसका दुष्परिणाम अब से भी अधिक भयंकर रूप में अगले दिनों दृष्टिगोचर होगा । एक से एक बढ़कर अनर्थ सँजोए जाते रहेंगे । पेट की एक सीमा है, उसे पूरा कर लेने पर भी अनावश्यक आहार खोजते चले जाने पर वह विग्रह उत्पन्न किए बिना रहेगा नहीं । उल्टी, दस्त, उदरशूल जैसी अवांछनीय परिस्थितियाँ ही उत्पन्न होंगी । यह मोटी बात समझी जा सके, तो फिर एक ही नीति निर्धारण शेष बच जाता है कि नीतिपूर्वक कमाया कितना ही क्यों न जाए, पर उसका उपयोग सत्प्रवृत्ति के मार्ग में आगे बढ़ने में ही किया जाए ।

मात्र पैसा नहीं, शक्ति सूत्रों में समर्थता, योग्यता, शिक्षा, कुशलता आदि अन्य विभूतियाँ भी आती हैं । उन्हें भी अपरिग्रही नीतिवानों की तरह पतन को बँटाने और उत्कर्ष को बढ़ाने में उसी प्रकार नियोजित किया जा सकता है ।

भौतिक क्षेत्र की त्रिविध संपदाओं को प्रगति का माध्यम कहा गया है । समृद्धि, समर्थता और कुशलता के आधार पर व्यक्ति या समाज के सौभाग्य को सराहा जाता है । इसमें कोई हर्ज भी नहीं है, बशर्ते कि उन पर नैतिकता, सामाजिकता और सद्भावना का अंकुश ढीला न होने पाए । व्यक्ति कमाए कुछ भी, पर ध्यान इतना अवश्य रखें कि उसमें अनीति का, मुफ्तखोरी का समावेश तो नहीं हो रहा

जाए । ध्यान इस बात का भी रखा जाए कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, उसकी आद्योपांत प्रगति जन सहयोग के आधार पर ही संभव हुई है । जिससे पाया है, उसे चुकाया भी जाना चाहिए अन्यथा लुटेरेपन की ही तूती बोलने लगेगी । तब ऋण चुकाने, प्रत्युपकार करने या कृतज्ञता जताने का द्वार ही बंद हो जाएगा । ऐसी दशा में संसार में दो ही वर्ग शेष रहेंगे—एक शोषक, दूसरा शोषित । तब उन स्थापनाओं और विधाओं के लिए कोई स्थान ही न रह जाएगा, जिनमें सहकारिता, सहभागिता और समानता की संस्थापना पर जोर दिया गया है ।

यदि जीवन में भाव संवेदना एवं वैचारिक उदारता के लिए स्थान न रह गया, तो वह अराजकता ही दीख पड़ने लगेगी, जिसमें समर्थों के लिए पीसना और असमर्थों के लिए पिसना ही नियति है । ऐसा मत्स्य न्याय ही यदि मनुष्यों के लिए भी परंपरा बन जाए तो फिर उस श्रेष्ठता के लिए कोई गुंजाइश ही न रहेगी, जिसके कारण मनुष्य को देवत्व का उत्तराधिकारी एवं प्राणी जगत की सर्वोच्च महत्ता का अधिकारी माना गया है । "कमाने वाला ही खाए" की नीति को यदि मान्यता मिल गई तो संसार में अबोधों, अविकसितों, अपंगों, असमर्थों को जीवित रहने का कोई अधिकार ही न रह जाएगा । उस स्थिति में अर्थशास्त्र के अनुसार मनुष्यों में से प्राय: आधों को अपने जीवन का अंत करना होगा । तब बूढ़ों को जीवित रहने देने की हिमायत किस तर्क के आधार पर की जा सकेगी ? तब फिर इस संसार में भेड़ियों को भेड़ियों द्वारा ही फाड़ चीर कर खा जाने जैसे दृश्य सर्वत्र उपस्थित होंगे । तब कैसा वीभत्स होगा संसार ?

घर के समर्थ कमाते हैं और उसी कमाई से परिवार के सभी सदस्य गुजारा करते हैं । यह जिम्मेदारी भी है, परंपरा भी और उदारता भी । सह वितरण यही है । पुण्य परमार्थ भी इसी को कहते हैं । मानवी गरिमा की सराहना इससे कम में करते बन ही नहीं

पड़ती । संपत्ति की सार्थकता भी इसी में है कि उसे मिलजुल कर सभी लोग काम में लाएँ । गिरों को उठाने और उठों को आगे बढ़ाने में इसी प्रक्रिया को अपनाने से काम चलता है ।

भारतीय धर्म परंपरा में गोग्रास, दैनिक पंच यज्ञ, मुसलमान धर्म में जकात, सिख धर्म में कड़ा–प्रसाद जैसे माध्यमों से दैनिक अनुदान निकालने की परंपरा है । समय भी संपदा है और साधनों को भी संपत्ति कहते हैं । दोनों ही वैभव ऐसे हैं, जो हर किसी के पास न्यूनाधिक मात्रा में होते ही हैं । यदि खुशहाली हो, तब तो कहना ही क्या, पर यदि तंगी और व्यस्तता के बीच भी रहना पड़ता हो, तो भी आवश्यक सुविधा साधनों में कटौती करके भी परमार्थ प्रयोजनों के लिए, उनका एक अंश नियमित रूप से निकालते ही रहना चाहिए । इसमें कंजूसी–कृपणता बरतना एक प्रकार से मानवी श्रेष्ठता को ही झुठलाना है ।

दान धर्म भी है और अधर्म भी । हथियार से पुण्य भी बन पड़ता है और पाप भी । दानशीलता को यदि भाव संवेदनाओं और विचार परिष्कार में लगाया जाए तो ही समझना चाहिए कि युग धर्म के निर्वाह और उज्ज्वल भविष्य के निर्माण में उस सदाशयता का सही नियोजन हो सका । अन्यथा धूर्तों द्वारा, मूर्ख आए दिन जिस तिस बहाने ठगे ही जाते रहते हैं और यह बहकाया जाता रहता है कि यह नियोजन पुण्य के लिए किया गया है । स्मरण रहे, उज्ज्वल भविष्य निर्माण की महती योजना, मन मस्तिष्क में आदर्शवादी भाव संवेदनाओं का उभार उपजाए बिना और किसी प्रकार सफल–संभव हो नहीं सकेगी ।

मनःस्थिति बदले तो परिस्थिति बदले

संसार में चिरकाल से दो प्रचण्ड धाराओं का संघर्ष होता चला आया है । इसमें से एक की मान्यता है कि अपेक्षित साधनों की बहुलता से ही प्रसन्नता और प्रगति संभव है । इसके विपरीत

दूसरी विचारधारा यह है कि मनःस्थिति ही परिस्थितियों की जन्मदात्री है । उसके आधार पर ही साधनों का आवश्यक उपार्जन और सत्प्रयोजनों के लिए सदुपयोग बन पड़ता है । वह न हो, तो इच्छित वस्तु पर्याप्त मात्रा में रहने पर भी अभाव और असंतोष पनपता दीख पड़ता है ।

एक विचारधारा कहती है कि यदि मन को साध सँभाल लिया जाए, तो निर्वाह के आवश्यक साधनों में कमी कभी नहीं पड़ सकती । कदाचित् पड़े भी, तो उस अभाव के साथ संयम, सहानुभूति, संतोष जैसे सद्‌गुणों का समावेश कर लेने पर जो है, उतने में ही भली प्रकार काम चल सकता है । कोई अभाव नहीं अखरता । दूसरी का कहना है कि जितने अधिक साधन, उतना अधिक सुख । समर्थता और संपन्नता होने पर दूसरे दुर्बलों के उपार्जन–अधिकार को भी हड़प कर मन चाहा मौज–मजा किया जा सकता है ।

दोनों के अपने अपने तर्क, आधार और प्रतिपादन हैं । प्रयोग भी दोनों का ही चिरकाल से होता चला आया है, पर अधिकांश लोग अपनी–अपनी पृथक् मान्यताएँ बनाए हुए चले आ रहे हैं । ऐसा सुयोग नहीं आया कि सभी लोग कोई सर्वसम्मत मान्यता अपना सकें । अपने अपने पक्ष के प्रति हठपूर्ण रवैया अपनाने के कारण, उनके बीच विग्रह भी खड़े होते रहते हैं । इसी को देवासुर संग्राम के नाम से जाना जाता है । पदार्थ ही सब कुछ हैं–यह मान्यता दैत्य पक्ष की है । वह भावनाओं को भ्रांति और प्रत्यक्ष को प्रामाणिक मानता है । देव पक्ष, भावनाओं को प्रधान और पदार्थ को गौण मानता है । दर्शन की पृष्ठभूमि पर इसी को भौतिकता और आध्यात्मिकता नाम दिया जाता है । हठवाद ने दोनों ही पक्षों को अपनी ही बात पर अड़े रहने के लिए भड़काया है ।

इस द्वंद्व के चलते देवता तो किसी प्रकार संतुष्ट भी हो सकें और परस्पर एक सीमा तक तालमेल भी बिठा सकें, पर दैत्य सर्वदा विग्रह में ही उलझे रह गए । वे न केवल देव पक्ष से जूझते रहे,

वरन् आपा–धापी, छीना–झपटी में उन्हें अपने स्तर के लोगों से भी आए दिन निपटना पड़ा । अनीति के आधार पर हस्तगत हुई उपलब्धियाँ अपनी बिरादरी वालों को भी चैन से नहीं बैठने देती । उनके बीच, लूट में अधिक हिस्सा पाने की प्रवृत्ति निरंतर विग्रह भड़काती रहती है ।

अच्छा होता–कहीं ऐसी समझ उपज सकी होती कि आवश्यकता के अनुरूप साधन इस सुविस्तृत प्रकृति कलेवर में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं, तब उन्हें मिल बाँटकर काम चलाने की समझदारी क्यों न अपनाई जाए ? पर दुर्बुद्धि न जाने क्यों तथाकथित समझदारों के सिर ताबड़तोड़ आक्रमण करती है, फलतः अभावग्रस्त समझे जाने वालों की तुलना में समर्थ, सशक्त ही अधिक घाटे में रहते हैं । इतना ही नहीं, जब वे उन्मादी हाथियों की तरह लड़ते हैं, तो अपने क्षेत्र की सुविस्तृत हरियाली को रौंद–दबोच कर तोड़–मरोड़ कर रख देते हैं । स्थिति ऐसी बना देते हैं, जिसमें वे स्वयं अपयश के भागी बनते हैं, आत्म प्रताड़ना की आग में जलते हैं और साथ ही वातावरण को विपन्न बनाकर रख देते हैं । न चैन से बैठते हैं और न दूसरों को बैठने देते हैं ।

मिल बाँटकर खाने योग्य सुविधा–साधन, प्रकृति सदा से उत्पन्न करती रही है और भविष्य में भी उसकी यही रीति नीति बनी रहेगी, पर उस हविश को क्या किया जाए, जो संसार भर का सब कुछ अपने ही छोटे से कटोरे में बटोर लेने के लिए बेतरह आकुल रहती है, अधिक और अधिक और अधिक की रट ही लगाए रहती है । यद्यपि यह चंद्रमा, आकाश से उतर कर उसी के घरौंदे में खेलते रहने के लिए न कभी तैयार हुआ और न कभी भविष्य में वैसा करने के लिए सहमत होते दीख पड़ता है । ऐसी दशा में अबोध बालक कभी स्वयं हैरान हो, कभी घरवालों पर खीझे और कभी आसमान तक लातें चलाकर चंद्रमा को धराशायी बनाने के लिए रौद्र रूप धारण करे, तो क्या किया जाए ?

यह समझने समझाने के अतिरिक्त और किसी प्रकार बात बनती ही नहीं कि अपनी सोच बदल ली जाए, तो अत्यधिक व्यथित–व्याकुल किए रहने वाली समस्या चुटकी बजाने की तरह मिनटों में हल हो सकती है । रंगीन चश्मा पहन लेने पर सारा संसार रंगीला दीख पड़े, तो उस गड़बड़ी से एक ही प्रकार निपटा जा सकता है कि चश्मा उतार दिया जाए और जो वस्तु जैसी है, उसे उसी रूप में देख कर संतोष कर लिया जाए । अपने निजी शरीर से लेकर, संसार भर में बिखरे अनेकानेक प्राणियों और पदार्थों तक प्रकृति का सुविस्तृत वैभव बिखरा पड़ा है । इसमें अपना अधिकार मात्र उतने पर है जितने से कि निर्वाह क्रम चलता रहे । इसके अतिरिक्त और जो कुछ बचा रहता है, वह इस सृष्टि के निवासी व अन्यान्य जड़ चेतन घटकों के लिए है । सब अपनी अपनी भागीदारी बरतें और इतने से ही संतुष्ट रहें, तो अच्छे बच्चों की तरह सभी अपने अरमान लेकर ' 'हँसते–हँसाते, खेलते–खिलाते'' रह सकते हैं । पर जब वे एक दूसरे का हक छीनने के लिए आक्रामक उद्दण्डता अपनाते हैं तो पारस्परिक सद्भावना तो गँवाते ही हैं, साथ ही उस हुड़दंग के लिए अभिभावकों की चपतें भी खाते हैं ।

ऐसे बुरे बच्चे कम से कम हमें तो नहीं ही होना चाहिए, जिनके संबंध में सर्वत्र समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी, बहादुरी जैसे व्यवहार की अपेक्षा की जाती है, साथ ही उपलब्धियों के न्यायोचित वितरण, विभाजन एवं सदुपयोग की आशा की जाती है ।

सभ्यता, अनुशासन के परिपालन में है । अपने को नीतिमत्ता से अनुबंधित किए रहें और दूसरों के साथ उदार व्यवहार बरतें, यही है मानवी गरिमा के साथ जुड़ा हुआ शालीन शिष्टाचार । इसके अंतर्गत यह लोकाचार भी आता है कि घर में बालकों, वृद्धों असमर्थों की व्यवस्था पहले बनाई जाए, इसके उपरांत अपनी ललक लिप्सा को आगे बढ़ने दिया जाए । जिन्हें अपना ही पेट सब कुछ दीखता है, वे उदारता बरतना तो दूर, बुरे लोगों की तरह निष्ठुरता बरतने में भी

नहीं चूकते । ऐसों को दूसरों का अधिकार हरण करते हुए लज्जा, संकोच, भय जैसा भी कुछ अनुभव नहीं होता । ऐसी जड़ता अपनाने पर तो, किसी को मानवी गरिमा के क्षेत्र में भी प्रवेश करने का अवसर कभी नहीं मिलता ।

इन दिनों दैत्य की तूती हर क्षेत्र में बोलती हैं । हर किसी को खाने की ही नहीं, कुतरने–बर्बाद करने की भी सनक चढ़ी है । साधनों की आपाधापी में, पौराणिक ''सुन्द–उपसुन्द'' की तरह पारस्परिक मारकाट मची है । यदि यह गर्हित दृष्टिकोण बदला जा सका होता और पिछड़ों को प्रमुखता देते हुए उनका हक उन्हें स्वेच्छापूर्वक लौटा दिया गया होता, तो अपनी इसी दुनियाँ में कितनी प्रसन्नता और सुसंपन्नता बिखरी पड़ी होती ? आत्मानुशासन रखा गया होता, संयम बरता जाता और अनिवार्य आवश्यकताएँ पूरी करके काम चला लिया जाता, तो इसका प्रभाव सार्वजनीन होता । मनुष्य सत्प्रवृति–संवर्धन में अपनी बचत को, विभूतियों को नियोजित करने के निर्णय पर पहुँचता और ऐसे सृजन में जिसे सतयुगी या स्वर्गीय कहने में किसी को कोई आपत्ति न होती ।

परिवर्तन का आधार तो ढूँढ़ें

स्वर्ग और नरक की दीवारें आपस में जुड़ी हुई हैं । घर वही है, पर एक दरवाजे से घुसने पर गंदगी से भरीपूरी नरक वाली कोठरी में पहुँचना पड़ता है, किंतु यदि दूसरे दरवाजे से होते हुए भीतर जाया जा सके तो स्वच्छता, सज्जा और सुगंधि से भरापूरा वातावरण ही दीख पड़ेगा ।

हम अब झगड़ने, हड़पने, निगलने और समेटने–भरने पर उतारू होते हैं, तो हाथों–हाथ अनीतिजन्य आत्म प्रताड़ना सहनी पड़ती है । बाहर की भर्त्सना और प्रताड़ना को तो सहा भी जा सकता है, पर जब अंतरात्मा कचोटती है, तब उसे सहन करना कठिन पड़ता है । पैर में लगी चोट और हाथ में लगी लाठी

उतनी असह्य नहीं होती, जितना कि अपेन्डिसाइटिस, यों हृदय घात जन्य दर्द से आदमी बेतरह तिलमिला जाता है और प्राणों पर आ बीतती है ।

मानवी गरिमा को खोकर मनुष्य से ऐसा कुछ बन ही नहीं पड़ता, जिस पर वह संतोष या गर्व कर सके, प्रसन्नता व्यक्त कर सकें और समुदाय के सम्मुख सिर ऊँचा उठाकर चल सकें । बाहर की वर्षा से छाता लगाकर भी बचा जा सकता है, पर जब भीतर से लानत बरसती है तो उससे कैसे बचा जाए ? धरती पर नरकीटक, नर–पशु और नर–पिशाच भी भ्रमण करते रहते हैं । देखने में उनकी भी आकृति मनुष्य जैसी ही होती है । अंतर तो आदतों को स्वभाव बनकर जमी हुई प्रकृति को देखकर ही किया जा सकता है ।

हेय स्तर में गिने जाने वाले पशु–पक्षियों को कोई नीति मर्यादा मान्य नहीं होती । गिद्ध, कौए और सियार कुछ भी पशुओं को न तो पत्नी और भगिनी–पुत्री के बीच अंतर करना आता है और न बीच चौराहे पर यौनाचार करने में कुछ अनुपयुक्त लगता है । इन प्राणियों को कहीं मल मूत्र त्यागने में भी हिचक नहीं लगती । वे किसी का भी खेत खा सकते हैं । छोटे जल जंतुओं को बगुले बिना कोई दया भाव दर्शाए निःसंकोच भाव से निगलते रहते हैं । यह एक निराली दुनिया है और उसकी अपनी सीमाएँ हैं, पर मनुष्य तो कुछ विशेष उपलब्धियाँ लेकर जन्मा है । उसकी गरिमा को सृष्टि में सर्वोच्च ठहराया गया है । ऐसी दशा में उसके कंधों पर कुछ विशेष जिम्मेदारियाँ भी आती हैं और कड़ी मर्यादाओं का परिपालन एवं वर्जनाओं का अनुशासन भी आवश्यक हो जाता है ।

किसी के पास तलवार होने का तात्पर्य यह तो नहीं कि वह कहीं भी कत्लेआम कर डाले ? अतिरिक्त बुद्धिमत्ता का तात्पर्य यह तो नहीं हो सकता कि इसके सहारे संसार की सुव्यवस्था को

बर्बाद करके रख दें ? अनीति बरतने के लिए उसे स्वेच्छाचार का लाइसेंस मिला हुआ नहीं है । इस स्तर की चतुरता अपना लेने का प्रतिफल यह तो नहीं होना चाहिए कि वह आत्मा और परमात्मा की आँखों में धूल झोंक कर, अहंकार से उन्मत्त होकर, अपने क्रिया–कलापों से वातावरण को उद्वेगों और अनाचारों से भर दे ?

दृष्टि पसार कर जिस ओर भी देखा जाए, उसी ओर समस्याओं, उलझनों, विडम्बनाओं, विपत्तियों, विग्रहों, विद्रोहों और संकटों के घटाटोप उमड़ते–उभरते दिखाई देते हैं । जिस प्रकृति का पयपान करके, जिसकी गोद में हम सब क्रीड़ा कल्लोल कर रहे थे, आश्चर्य है कि हम उसी की गर्दन घोंट डालने के लिए उतारू हो गए ? जहां से हम अन्न–जल और वनस्पति प्राप्त करके जीवन धारण किए रहा करते थे, वह संपदा जिसके साथ हमारा संबंध सहोदर भाई जैसा है, यदि उसे इसी प्रकार नष्ट करते चले गए तो अर्धांग पक्षाघात पीड़ित की तरह हमारा जीवन भी स्थिर न रह सकेगा । भूगर्भ का असीम उत्खनन उसे बाँझ बनाकर छोड़ेगा । जलाशयों की संपदा को मारक तत्वों से भरते कारखाने, पीने योग्य पानी छोड़ेंगे भी या नहीं ? आकाश–वायुमंडल जिस प्रकार प्रदूषण से, विकिरण से, कोलाहल से निरंतर भरता चला जा रहा है, उससे पृथ्वी का रक्षा कवच फट रहा है और बढ़ा हुआ तापमान हिम क्षेत्रों को पिघलाकर समुद्र में ऐसी बाढ़ लाने का ताना–बाना बुन रहा है, जिससे जितना थल भाग अभी भी बचा है, उसका अधिकांश भाग उस बाढ़ में समा जाएगा ।

बिच्छू के बारे में सुना जाता है कि उसके बच्चे माँ का पेट खा पीकर तब बाहर निकलते हैं । लगता है मनुष्य ने कहीं बिच्छू की रीति नीति तो नहीं अपना ली है, जिससे वह उस प्रकृति का सर्वनाश करके रहे, जो उसके जीवन धारण करने का प्रमुख आधार है । खीझी हुई प्रकृति क्या बदला ले सकती है ? अणु उपकरणों के बदले क्या प्रकृति ही सर्वनाश, महाप्रलय सामने लाकर

खड़ी कर सकती है ? यह सब सोचने की मानो किसी को फुरसत ही नहीं है ।

मनुष्य का मनुष्य के प्रति व्यवहार निराशाजनक स्तर तक नीचे गिर गया है । उसने अपनी सत्ता और महत्ता को किस प्रकार फुलझड़ी की तरह जलाने का कौतुक अपना लिया है, उससे प्रतीत होता है कि इस सुहावनी धरती पर रहते हुए भी हम सब प्रेत–पिशाचों की तरह एक दूसरे को काटने, गलाने, जलाने पर उतारू हैं । इसके प्रतिफल स्वरूप परस्पर सहयोग की बात बनना तो दूर, हम अविश्वास के ऐसे वातावरण में रह रहे हैं, जिसमें अपनी छाया तक से डर लगता है । विश्वास और विश्वासघात दोनों परस्पर हमजोली बनकर चल रहे हैं । असंयम के अतिवाद ने शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक दूरदर्शिता को मटियामेट करके रख दिया है । धन की इतनी बड़ी भूमिका बताई है कि उसे पाने के लिए कोई किसी के साथ कितनी ही बढ़ी–चढ़ी दुष्टता कर बैठे, तो उसे कम ही समझना चाहिए । ऐसे अभ्यस्त अनाचार के बीच कोई शरीर, मस्तिष्क, परिवार, समाज स्वयं समुन्नत रह सकेगा, इसकी आशा ही छोड़ देनी चाहिए, छूट भी गई है ।

समय को अत्यंत दुरूह समझा जा रहा है और मान्यता बनती जा रही है कि यह बढ़ते हुए कदम मानवी महत्ता ही नहीं, सत्ता का भी समापन करके रहेंगे । क्या हम सब अगले ही दिनों सामूहिक आत्महत्या का यह विनाश आयोजित करके रहेंगे ?

स्थिति को कैसे बदला जाए ? इसके संबंध में तरह तरह के उत्पादनों, उपकरणों, निर्धारणों की बात सोची जाती है । वैज्ञानिक, मनीषी, सत्ताधारी, शक्तिशाली, अपने अपने ढंग से यह भी सोचते हैं कि प्रस्तुत अनर्थ को यदि सुसंरचना में बदला जा सके, तो इसकी तैयारी के लिए बड़े साधन, बड़े–बड़े आधार खड़े किए जाने चाहिए । ऐसी योजनाएँ भी आए दिन सुनने को मिलती हैं और जताई–बताई भी जाती हैं कि अधिक साधन संपन्न संसार विनिर्मित करने के

लिए, बड़े लोग कुछ बड़े कदम उठाने, बड़े विधान बनाने जा रहे हैं । इतने पर भी निराशा को हटाने में राई रत्ती भी सफलता मिलती दीख नहीं पड़ती, क्योंकि वस्तुतः मनःस्थिति ही परिस्थितियों की जन्मदात्री है । यदि मानसिकता को आदर्शवादी उत्कृष्टता के साथ न जोड़ा जा सका, तो स्थिति सुधरेगी, सुलझेगी नहीं, वरन् विपत्तियाँ और भी नजदीक आती, और भी रौद्र रूप धारण करती चली जाएँगी । समस्याओं का समाधान भले ही आज हो या आज से हजार वर्ष बाद, पर उसका समाधान मात्र एक ही उपाय से संभव होगा, कि मनःस्थिति में संव्याप्त अवांछनीयता को पूरी तरह बुहार फेंका जाए और ऐसा कुछ शक्तिशाली चिंतन उभारा जाए जो प्रस्तुत उलटे प्रवाह को अपनी प्रचण्ड शक्ति के सहारे उलटकर सीधा कर सके ।

मिशन की पत्रिकाएँ

(१) अखण्ड ज्योति (मासिक)

(धर्म एवं अध्यात्म के तत्त्वज्ञान का विज्ञान एवं तर्क-तथ्य-प्रमाण की कसौटी पर खरा चिंतन)

वार्षिक शुल्क-९६.००, आजीवन शुल्क-१८००.०० रुपया।

अखण्ड ज्योति अंग्रेजी (द्वि-मासिक)

वार्षिक शुल्क-६०.०० रुपया।

पता : अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा-२८१००३

फोन : (०५६५) २४०३९४०

(२) युग निर्माण योजना (मासिक)

(व्यक्ति, परिवार, समाज निर्माण एवं सात आंदोलनों की मार्गदर्शक पत्रिका)

वार्षिक शुल्क-४८.००, आजीवन शुल्क-९००.०० रुपया।

युग शक्ति गायत्री (गुजराती मासिक)

(गायत्री महाविज्ञान, धर्म, अध्यात्म एवं युगानुकूल विचार परिवर्तन का मार्गदर्शन)

वार्षिक शुल्क-७५.००, आजीवन शुल्क-१५००.०० रुपया।

पता : युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

(३) प्रज्ञा अभियान (पाक्षिक)

(युग निर्माण मिशन के क्रियाकलापों एवं मार्गदर्शन का समाचार-पत्र)

वार्षिक शुल्क-२४.०० रुपया।

पाक्षिक वीडियो पत्रिका : युग प्रवाह

(युग निर्माण मिशन के प्रमुख क्रियाकलापों की दृश्य-श्रव्य जानकारी)

वार्षिक शुल्क-१५००.०० रुपया।

पता : शांतिकुञ्ज, हरिद्वार (उत्तरांचल) फोन : ०१३३४-२६०६०२